



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2016; 2(6): 58-61

© 2016 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 13-09-2016

Accepted: 14-10-2016

शीलू कुमार

प्राध्यापक श्री सोमनाथ संस्कृत
माह विद्यालय जींद हरियाणा

संस्कृत साहित्य में द्वित्व प्रकृष का भाषा-वैज्ञानिक चिन्तन

शीलू कुमार

ऋग्¹ प्राति एवं पाणिनि² के कथनानुसार प्रथम दृष्टिकोण शाकल्य जैसे एक प्राचीन आचार्य का था जिनका कथन था कि द्वित्व कभी होता ही नहीं है। ऋग् प्राति तथा पाणिनि के शब्द प्रयोग से यह निश्चित रूप से स्पष्ट नहीं कि शाकल्य का संकेत ध्वन्यात्मक द्वित्व से था या केवल लिप्यात्मक द्वित्व से। यदि इससे शाकल्य का अभिप्राय था कि संस्कृत में ध्वन्यात्मक द्वित्व कभी होता ही नहीं तो कहना होगा कि वह गलती पर था। यदि व्यवहार भाषा के रूप में संस्कृत ने इसके लिए मार्ग प्रस्तुत न किया होता तो पाली तथा प्राकृत में द्वित्व होता ही नहीं। दूसरे "कभी नहीं" की अवधारणात्मक उक्ति अविश्वासनीय रूप से अतिव्याप्ति थी। संस्कृत, प्राकृत तथा कुछ आधुनिक बोलियों में स्वतः नासिकीकरण की वास्तविक विद्यमानता शाकल्य के कट्टरमताग्रही कथन को गलत सिद्ध करती है। तीसरे यदि इन व्यंजनों का कभी भी द्वित्व उच्चारण नहीं होता तो प्राचीन शिलालेखों तथा पाण्डुलिपियों में इन्हें द्वित्व अंकित नहीं किया गया होता। किन्तु, यदि शाकल्य ने संस्कृत में द्वित्व को इतना प्राधान्येन पाया कि उसने लिप्यात्मक रूप में इसे द्वित्व के रूप में अंकित करना अनावश्यक समझा तो उसका दृष्टिकोण ग्राह्य हो सकता है। यद्यपि यह आने वाली पीढ़ियों के लिए पथ-प्रदर्शन का काम नहीं कर सकता था। शाकल्य का यह प्रतिषेध सम्भवः उसके युग में कुछ बोलियों में प्रचलित द्वित्व के अतिशय प्रयोग के विरुद्ध एक चेतावनी के रूप में था।

दूसरा दृष्टिकोण जिसका प्रतिनिधित्व सभी प्रति शख्य तथा कुछ शिक्षाएँ करती हैं वह मार्यादा की दूसरी अति पर है। इस दृष्टिकोण के अनुसार स्वर के उपरान्त आने वाले प्रत्येक व्यञ्जन-समूह का प्रथम वर्ण कुछ अपवादों को छोड़कर, जिनका विवरण आगे दिया जायेगा, द्वित्व होगा (अद्य-अद्दय, मुक्त-भुक्कत)। तथा यह पर्याप्त रूप से सिद्ध किया जा चुका है कि जीवित बोलियों का साक्ष्य इस तथ्य की पुष्टि करता है कि बोलचाल की संस्कृत में द्वित्व की प्रवृत्ति का बोलबाला था। शब्द राई रात्रि तथा उड़िया पुआ पुत्र में निर्दिष्ट भिन्न प्रकार की प्रवृत्ति, चाहे गौण ही पाणिनि ने मध्य मार्ग को अपनाया जिसके मतानुसार प्रातिशाख्यों द्वारा विहित स्थितियों में व्यंजन वैकल्पिक रूप से द्वित्व हो सकते थे। इन दृष्टिकोण से इस बात का संकेत मिलता है कि पाणिनि ने दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों की विद्यमानता को देख था, यद्यपि पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट विकल्प अनिश्चित है, तथा वह नहीं दिखाता कि इन दो प्रवृत्तियों में किसका अधिक प्राधान्य था, तथा इनमें से प्रत्येक प्रवृत्ति का क्षेत्र विशेष कौन-सा प्रदेश था।

स्वरान्तर्वर्ती द्वित्व व्यंजनों के उच्चारण के सम्बन्ध में वाजसनेयी प्रातिशाख्य का कथन है कि इनका उच्चारण एकवत् होना चाहिए, तथा कुक्कुटः का उच्चारण कुक्कुटः तथा दत्तः का दत्तः।

शोधकर्ता के विचार से प्रथम व्यंजन के 'धारण' अथवा दबाव के कारण ऐसा उच्चारण होता है, शोधकर्ता का दृष्टिकोण भारतीय बोलियों में पाए जाने वाले स्वरान्तर्वर्ती व्यंजनों के शिथिल उच्चारण की प्रबल प्रवृत्ति के साथ संगति रखता है। किन्तु, जैसा कि अभी दिखाया जाएगा, कुछ आधुनिक भारतीय बोलियों में स्वरान्तर्वर्ती व्यंजनों का प्रबल द्वित्वीकरण तथा साहित्यिक अभिलेखों में स्वभावतः द्वित्व के प्रायिक रूपों के चिह्नों का होना इस बात का सूचक है कि वाजसनेयी प्रातिशाख्य का दृष्टिकोण संस्कृत उच्चारण के सभी क्षेत्रों पर लागू नहीं होता था।

स्वरान्तर्वर्ती द्वित्व व्यंजनों के उच्चारण में भिन्नता भी इस तथ्य को वशिष्ठ शिक्षा ने बिल्कुल सही रूप में देखा था। यह शिक्षा कहती है कि जहाँ कहीं भी दो स्वरों के मध्य में द्वित्व हो, उसकी वास्तविकता केवल उच्चारण विशेष से ही आंकी जा सकती है तथा इसे किसी स्थिर नियम के अधीन होना नहीं रखा जा सकता।³ इसमें कोई सन्देह नहीं कि शिक्षा के इस कथन को निरपवाद रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता, तथापि ध्वन्यात्मक विशेषताओं के निकट निरीक्षण से लेखक ने अनेक ऐसी विभिन्न निश्चित प्रवृत्तियों का पता लगा लिया होगा, जिन्हें कि यदि केवल एक नियम के अन्तर्गत नहीं तो कुछ नियमों के अन्तर्गत रखा जा सकता था। किन्तु फिर भी शिक्षा ने ठीक ही इन विभिन्न प्रवृत्तियों की वास्तविक विद्यमानता का निर्देश किया है। स्वरान्तर्वर्ती द्वित्व की इस विशेष सामग्री के कुछ अंशों

Correspondence

शीलू कुमार

प्राध्यापक श्री सोमनाथ संस्कृत
माह विद्यालय जींद हरियाणा

का उल्लेख 'सर्वसम्मत शिक्षा' ने भी किया है। इसका कथन है कि कभी-कभी परि उपसर्ग के बाद भुज् में अतिरिक्त ब् जोड़ दिया जाता है, फलस्वरूप परि+भुज् का 'परिभुज्' हो जाता है तथा कभी-कभी उपसर्ग के बाद खिद् में एक अतिरिक्त क् जोड़ दिया जाता है, यथा श्रुखिदते, प्रखिदते। इसी प्रकार शिक्षा आगे कहती है कि कभी-कभी स्वरान्तर्वर्ती द्वित्व व्यंजन उसी प्रकार यह द्वित्वात्मक होते हैं जिस प्रकार कि लिप्यात्मक रूपों में उनका अंकन होता है।

स्वरान्तर्वर्ती व्यंजनों का मौलिक द्वित्वीकरण

अब उपर्युक्त विचार हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित करता है कि क्या संस्कृत में स्वरान्तर्वर्ती व्यंजनों के स्वाभाविक द्वित्व के कोई चिह्न हैं? इस स्वाभाविक या स्वतः होने वाले द्वित्व का दो समान व्यंजनों के संयोग के साथ अभेद संकर नहीं करना चाहिए, यथा दतम्, आतम् में, जिनमें कि व्यंजन त् का द्वित्व नहीं हुआ है, वरन् यहाँ पर भिन्न-भिन्न अक्षरों के दो त् हैं जिनका कि संयोग हो गया है। इस विषय में किए गए अनुसन्धानों से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं:

वेदों में स्वरान्तर्वर्ती व्यंजनों का द्वित्वीकरण

वेदों में स्वाभाविक द्वित्वीकरण का कोई निर्णायक प्रमाण प्राप्त होता हुआ दिखाई नहीं देता। ऋग्वेद में तीन शब्द हैं— चिच्चिकः (एक पक्षी का नाम), जज्जतीरिव (जल की ध्वनि) तथा प्रयोण उद्धृत किया जाने वाला अख्खलीकृत्य (मेंढकों की ध्वनि), जो कि अनुकरणात्मक शब्द हैं, तथा इस रूप में मौलिक द्वित्वीकरण की अपेक्षा संयोग में निहित दो व्यंजनों का अधिक प्रतिनिधित्व करते हैं। पिप्पलम् शब्द में इसकी आशंका की जा सकती है, यद्यपि वैयाकरण इसकी व्युत्पत्ति प्लु या पृ धातु से एक अनियमित मृशार्थक के रूप में करते हैं। किन्तु ऋग्वेद में मौलिक द्वित्वीकरण की किसी सामान्य प्रवृत्ति के संकेत नहीं मिलते। इसी प्रकार यजुर्वेद में केवल पाँच ही ऐसे शब्द प्रतीत होते हैं जो कि स्थूल दृष्टि से स्वाभाविक द्वित्वीकरण का संकेत करते हैं। ये शब्द हैं—वृक्काभ्याम्, तित्तिरीन् कुक्कुटः, कक्कटः पलिपिला। तथापि एक क्षण के विमर्श से प्रतीत हो जाएगा कि ये उदाहरण द्वित्व के रूप नहीं, अपितु दो स्वतन्त्र व्यंजनों के रूप हैं जो कि एक दूसरे के पास आ पड़े हैं। प्रथम सम्भवतः वृक् धातु+क् प्रत्यय से बना है। अगले तीन पशुओं या पक्षियों के नाम होने के कारण कुक्कू (कोयल) के समान अनुकरणात्मक ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। जबकि पिलिपिला एक अन्तर्निवेशी प् के साथ 'पिलि' शब्द के द्वित्वीकरण से बना है—यजुर्वेद के अन्य द्वित्वीकरण के रूप समीकरण या दो व्यंजनों के पास-पास होने के स्पष्ट उदाहरण हैं, तथा 'गोलतिका' में जो भी कृतिका, भित्तिका (उणादि सूत्र के अनुसार) के सादृश्य पर तिक् पर लत् प्रत्यय के योग से बना है। समावेद में एकमात्र ज्योक्कः 'लम्ब' शब्द इस प्रकार के द्वित्व का संकेत दे सकता है किन्तु इस शब्द का मूल रूप ज्योत् होने के कारण (तुल निघण्टु जिसमें दयोतते ज्योतते को एक साथ रखा गया है) यह त् के अनुवर्ती प्रत्यय कस् के साथ हुए समीकरण का परिणाम हो सकता है। इसी प्रकार विचार अथर्ववेद के चार शब्दों अर्थात् पिप्पलम् पिप्ली, पिप्पति⁵ तथा वृक्की⁶ पर भी लागू हो सकता है।

ब्राह्मण ग्रन्थ

ऐतिरेय ब्राह्मण में कुछ दिलचस्प रूप आते हैं जो कि द्वित्व वाले शब्दों के भाषायी अदान का संकेत करते हैं। प्रथम है सम्मा=समा 'समान' जिस पर व्याख्याकार कहता हैं—सम्मा का दूसरा म् वैदिक (छान्दस) है—जब कभी उन्हें भाषायी या व्याकरणिक अनियमितता के लिए कोई आधार नहीं मिल पाता तो व्याख्याकार प्रायः ऐसी ही रूढ़ व्याख्या का सहारा लेते हैं। यहाँ पर व्याख्याकार स्पष्टतः गलती पर है, क्योंकि, जैसा कि उपर्युक्त तथ्यों से प्रतीत होगा, वेदों में इस प्रकार के द्वित्वीकरण के कोई संकेत नहीं पाए जाते।

अतः यहाँ पर द्वित्व वैदिक नहीं है। यह या तो कोई बोलीगत आदान है या सम् (मा) का प्रत्ययात्मक विस्तरण। ऐतरेय ब्राह्मण के उसी अध्याय में आने वाला अन्य शब्द है अवप्रज्जन जिसका अर्थ है 'वस्त्राजचल' सेन्ट पीटर्सबर्ग कोष में इसे पर्ज या पर्ज से व्युत्पन्न माना गया है, यह व्युत्पत्ति निःसंदिग्ध नहीं तथा इसमें यह भी नहीं बताया गया कि वर्ज से भिन्न रूप में पर्ज का द्वित्व ज् के साथ प्रज्ज कैसे हो गया, जब तक कि यह कोई बाली से प्राप्त अदान नहीं। एक ओर शब्द गुग्गुलु बड़ा दिलचस्प है, यह इसलिए नहीं कि यह स्वतः द्वित्वीकरण को अभिव्यक्त करता है, बल्कि यह इसलिए कि इसमें पता चलता है कि प्राकृत की प्रवृत्ति ऐतिरेय ब्राह्मण को भी प्रभावित करने लगी थी। शतपथ ब्राह्मण तथा अथर्ववेद में इसका अनुरूपी शब्द है गुल्गुलु जो कि ऐतिरेय ब्राह्मण के 'गुग्गुलु' जैसे रूप हमें ऐतिरेय ब्राह्मण काल की उपभाषायी प्रवृत्तियों की झोंकी प्रस्तुत करते हैं। उसमें में कुछ द्वित्वीकरण को तथा अन्य प्राकृत समीकरण को दर्शाते हैं। स्वतः द्वित्वीकरण का एक रूप 'पंचविंश ब्राह्मण' में भी देखा जा सकता है अर्थात् 'अलम्' शब्द में जो कि किसी व्यक्ति का व्यक्तिगत नाम है। निःसन्देह ये कहीं-कहीं पाए जाने वाले रूप ब्राह्मणकाल में स्वतः द्वित्वीकरण की प्रवृत्ति के परिचायक नहीं, किन्तु फिर भी ये उस काल की किन्हीं बोलियों की प्रवृत्ति का संकेत श्रवण्य देते हैं।

निघण्टु में हम्मति तथा दुम्मति ये दो धातु दिए गये हैं, किन्तु 'हम्मति' के साथ-साथ हमें दूसरा पाठ सहम्मति भी मिलता है, यह सम्भव है कि इन दोनों धातुओं में द्वित्व व्यंजन केवल समीकरण का द्योतक है। इसलिए निघण्टु में हमें स्वतः द्वित्वीकरण की कोई निश्चित सामग्री प्राप्त नहीं होती।⁷

इस विषय पर पाणिनि के धातुपाठ के कुछ संग्रह बड़ा दिलचस्प प्रकाश डालते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि धातु पाठ में अट्ट, चुड़ड़ तथा कड़ड़ धातुओं को अट्ट, चत्त्, श्रदत् तथा कदत् के रूप में दिया गया है, अन्तिम मूर्धन्य व्यंजन से पूर्व दन्त्य व्यंजन है जो कि द्योतित करता है कि अट्ट आदि में मूर्धन्य का द्वित्व वास्तव में समीकरण का रूप है। किन्तु धातु पाठ में और अनेक धातु हैं, जिनमें द्वित्व वास्तव में समीकरण का रूप है। किन्तु धातु पाठ में और अनेक धातु हैं, जिनमें द्वित्व व्यंजन हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, ये हैं—बुक्क बोलना, नक्क, धक्क 'बर्बाद करना', चक्क, चुक्क, चिक्क 'दिखी करना', फक्क 'नीचे जाना, कुट्ट, कुट्टिम, कोट्टपाल, मल्ल 'सहारा देना', भल्ल 'नुकसान पहुँचाना या घायल करना', भल्लूक 'भालू' वेल् 'घूमना'। और भी अक्का, अल्ला,⁸ पाणिनि की व्याख्या में माँ के लिए व्याख्याकारों द्वारा दिए गए नाम। अतः सम्भवतः हम वेदों से जितने दूर आते हैं उतने ही अधिक स्वतः द्वित्व के रूप हमारे सामने आते हैं। शोधकर्ता ने केवल 'समाने आते हैं' इसलिए कहा कि सम्भव है कि ये द्वित्व भी मूलतः समीकरण के कारण ही हो।

लौकिक संस्कृत साहित्य में, विशेषकर कोश ग्रन्थों में तथा चिकित्सा ग्रन्थ 'शश्रुत' में अनेक जड़ी-बुटियों के नाम आते हैं। जिसमें सम्भवतः स्वतः द्वित्वीकरण का संकेत मिलता है, क्योंकि इनकी हेतुता समीकरण के आधार पर निरूपित नहीं की जा सकती है। इन शब्दों के कुछ उदाहरण सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश में भी पाए जाते हैं : इज्जल—, इक्कट—, कक्कोल—, चुच्चू—, पक्कटि। इसी प्रकार वन जीवन तथा ग्राम्य जीवन से सम्बद्ध अनेक शब्द दिए जा सकते हैं—तुल पक्करण 'किसी बर्बर या वनचर की झोंपड़ी', पल्ली 'गँव', पोट्टली, पोटली, पुक्कस, बुक्कस 'नीच जाति विशेष का नाम' जिसका उल्लेख राजतरंगिणी में किया गया है। मौलिक द्वित्व का संकेत देने वाले ये शब्द संभवतः बोलियों में से लिए गए थे तथा बाद में संस्कृत में घुल-मिल गए। लेकिन निश्चित रूप से ऐसा मान लेना जल्दबाजी होगी कि ये स्वतः द्वित्व के रूप हैं तथा समीकरण के नहीं।

शिलालेखों, महाभारत, कथासरित्सागर तथा विशेषकर राजतरंगिणी में पाये जाने वाले अनेक व्यक्तियों तथा स्थानों के नाम सम्भवतः स्वतः द्वित्वीकरण की दिलचस्प एवं प्रभूत सामग्री करते हैं, क्योंकि

इनकी हेतुता समीकरण के आधार पर निरूपित नहीं की जा सकती। तुल रिस्सक, जज्ज दो व्यक्तियों के नाम जिनका उल्लेख संस्कृत के एक शिलालेख, महावन प्रशस्ति, में पाया जाता है। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश से अधोलिखित संग्रह रुचिकर हो सकता है। इल्लक एक व्यक्तियों तथा स्थानों के नाम :- तुल छुड्ड, जगिक, जज्ज, जज्जल, टक्क, टिकक, ढक्क, थक्कन, दिद्दा, धम्मट, धम्मिका, नाज्जक, मड्ड, मुम्मिनि, लुक्कक, सज्जक, सुलक्क, सुस्सल तथा हिम्मक।

भारतीय वैयाकरण हेमचन्द्र तथा वररुचि ने प्राकृत में स्वतः द्वित्व के रूपों का निर्देश किया है।

उप्परि, संस्कृत उपरि का अनुरूपी, उप्पाउ; संस्कृत=उपाय; घित=घृत; जमक्का=यमको; णाअक्क=नायक; फुट्टे=स्फुटति; जित=जित।⁹

अनुरूपी हिन्दी शब्दों—ऊपर तथा जीत के स्वरों की मात्रा सिद्ध करती है कि इन दो शब्दों के अनुरूप प्राकृत रूपों में वास्तव में द्वित्व व्यंजन थे। प्राचीन काश्मीरी भाषा के एक ग्रन्थ, शितिकण्ठ रचित 'महानय प्रकाश' में मौलिक द्वित्वीकरण के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं, यथा रुचि के लिए रुच्ची, गत के लिए गत, कृत के लिए कित, एक के लिए अक्क; यद्यपि अन्तिम उदाहरण में प्राकृत के समान, द्वित्व आद्य अक्षर की मात्रा के ह्रास से हो गया होगा।

अतः स्वतः द्वित्वीकरण की स्वतंत्र प्रवृत्तियाँ यद्यपि विरल हैं किन्तु भारतीय बोलियों में इनका सर्वथा अभाव नहीं तथा जितना हम वेदों से दूर होते जाते हैं उतनी इनकी आवृत्ति बढ़ती जाती है। भारतीय वैयाकरणों ने अन्त्य व्यंजनों के द्वित्व का विधान नहीं किया है, केवल मात्र अपवाद अथर्ववेद प्राति का प्रमाण है जो कि स्पष्ट रूप से विधान करता है कि शब्दों के अन्त्य व्यंजनों का द्वित्व के प्रमाण नहीं मिलते, जब कि, जैसा कि सर्वविदित है, प्राकृत में द्वित्व के स्थान पर अन्त्य व्यंजनों का लोप ही हो गया था। यदि इस प्रकार की विशेषता कभी घटित हुई भी तोक यह अवश्य ही कोई अलग-अलग स्थानीय घटना रही होगी जिसका पता लग सकना अब इस युग में कठिन है।

किन्तु सभी वैयाकरण मानते हैं कि ह्रस्व के बाद तथा किसी भी स्वर से पूर्व आने वाले न् या ङ् का द्वित्व हो जाता है, तथा प्रत्यङ्. +आत्मा=प्रत्यङ्. डात्मा, सन्+श्रत्र=सन्त्र। इस विषय में भी 'पारिशिक्षा' तथा 'व्यासशिक्षा' कहती हैं कि अन्त्य व्यंजन, यद्यपि द्वित्व रूप में लिखे जाते हैं किन्तु उनका उच्चारण केवल एक ही बार किया जाना चाहिए। किन्तु जब इनके आगे कोई व्यंजनों का कभी 'अन्त्य' व्यंजनों के समान (अर्थात् अन्त्य इस रूप में नहीं कि इनके बाद कोई शब्द ही न आ रहा हो) ये अन्त्य व्यंजन भी द्वित्व हो सकते हैं। यथा आप्नुवन् पूर्वम्, सम्पक्क स्त्रवन्ति, तत् करोति। यद्यपि यह शिक्षा इन्हें 'अन्त्य व्यंजन' कहती है किन्तु दृढ़ अर्थ में इन्हें श्रन्त्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इनके बाद दूसरे व्यंजन आते हैं तथा इनका द्वित्व वास्तव में द्वित्व विशेष न होकर सन्धि का रूप है। इसी प्रकार स्वर से पूर्व में ङ् या न् का द्वित्वीकरण भी वास्तव में संयोजन का ही रूप है; क्योंकि अनेक शब्द-संपर्को स्वर से समीकृत होकर न् बन गया था तथा अन्त में न् में परिवर्तित हो गया था। संस्कृत सन्=भारो सोन्त्स्। इसी प्रकार ङ् संस्कृत रूप रचना में भी ङ्क्स का प्रनिधित्व करता है। प्रत्यङ्. वास्तव में प्रत्यङ्क्स है। तथाकथित अतिरिक्त व्यंजन-संयोजन में सुरक्षित रखा गया था या पुनरुद्भूत हो गया था।

सन्धि में द्वित्वीकरण

सन्धि में द्वित्वीकरण के विषय में 'चारयणीय शिक्षा' में एक बड़ा रुचिकर विचार आया है—'सन्धि काल में वर्ण द्वित्व हो जाते हैं। जब सन्धि न हो तो उन्हें केवल ह्रस्व वर्णों के समान समझना चाहिए। सन्धि-प्राप्त ध्वनियों को तैल की भाँति पीड़ित करना चाहिए तथा सन्धि हीन वर्णों के साथ पत्रों कासा व्यवहार करना चाहिए। जब पदान्त व्यंजन के उपरान्त कोई आदि व्यंजन हो तो पदान्त व्यंजन को नित्य रूप से द्वित्व हो जाता है'। प्रथम तो

लेखक द्वारा अद्वित्वीकृत वर्ण के लिए 'ह्रस्व' शब्द का प्रयोग दिलचस्प है। इससे इस बात का निर्देश मिलता है कि इसके विपरीत ध्वनि अर्थात् द्वित्वीकृत वर्ण, लेखक के दृष्टिकोण से केवल मात्रा की दृष्टि से दीर्घ था, तथा इससे यहाँ पर शोधकर्ता का अभिप्राय दो पृथक्-पृथक् ध्वनियों से नहीं है। किन्तु जहाँ तक शोधकर्ता के इस विचार का सम्बन्ध है कि सन्धि में वर्णों का द्वित्वीकरण हो जाता है, जैसे कि सम्यक् स्त्रवन्ति, तत्प्राप्नोत् में, तो कहना होगा कि शोधकर्ता का दृष्टिकोण ऊपर विवेचित अक्षरीकरण के सामान्य सिद्धान्त के साथ संगति नहीं रखता, यदि 'वर्ण' से उसका अभिप्राय उन इक्कीस व्यंजनों से है जिनका कि विवरण आगे दिया जाना है। क्योंकि भाषा की सामान्य प्रवृत्ति तथा अक्षरीकरण का सामान्य सिद्धान्त, जिसके अनुसार सभी अन्त्य व्यंजन पूर्ववर्ती अक्षर के अंग होते हैं, इस प्रकार सन्धि में अन्त्य त् के द्वित्वीकरण की स्वीकृति नहीं दे सकते थे। भाषा के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार इस प्रसंग में अन्त्य त् अन्तःस्पृष्ट था तथा प्राकृत में यह सर्वथा लुप्त हो गया था। इस प्रकार य कठिनता से ही सम्भव था कि यह ध्वन्यात्मक रूप में द्वित्व हो। अतः सन्धि में अन्त्य व्यंजन से पूर्व अन्त्य व्यंजन के द्वित्वीकरण, जो केवल थोड़ी-सी पाण्डुलिपियों में विरल रूप में ही मिलता है, का आधार ध्वन्यात्मक की अपेक्षा रुढिगत ही अधिक था, तथा इसके फलस्वरूप यह असम्भव है कि वास्तविक बोलचाल की संस्कृत में अन्त्य व्यंजनों का तैलवत् पीडन होता था, जैसा कि लेखक का कथन है। इनका व्यवहार पत्रों की भाँति अधिक था, इस अर्थ में कि वास्तविक वाग्व्यहार में अन्त्य व्यंजन आगामी आद्य व्यंजनों के साथ इतनी दृढ़ता से सम्बद्ध नहीं होता था, यहाँ तक कि वर्ण-विन्यास क्रम में इन वर्णों का सम्बन्ध सन्धि द्वारा प्रदर्शित किया जाता था, दाहरणार्थ, लिखित संस्कृत में वाग्धारा के यावत् हि का यावद्धि हो गया तथा को सन्देह नहीं कि श्रौपचारिक पाठ में तथा साहित्यिक संस्कृत में इसका उच्चारण यावद्धि होता था, किन्तु इस तथ्य पर चिार करने पर कि इसका अनुरूपी प्राकृत रूप जाव हि है तथा अति प्राचीन वैयाकरणों के अक्षरीकरण के नियमों के अनुसार, कि अन्त्य पूर्ववर्ती अक्षर के साथ जाना चाहिए, यह सम्भव प्रतीत होता है कि वास्तविक बोलचाल में प्रायः इसका उच्चारण यावद्धि की अपेक्षा अधिकतर यावत् हि होता होगा, यद्यपि इसका लिप्यात्मक अंकन यावद्धि ही होता था।

भारतीय वैयाकरणों ने पदान्त व्यंजनों की केवल लिप्यात्मक सन्धि तथा ध्वन्यात्मक सन्धि के अन्तर को भी देख लिया था। उदाहरणार्थ, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य पर भाष्य करते हुए 'वैदिकाभरण' ने निर्देश किया है कि 'अवसान दो प्रकार का होता है : वे जो कि ग्रन्थ के पाठ में दिये जाते हैं (अर्थात् लिप्यात्मक) तथा वे जो वक्ता के द्वारा (वाग्धारा को बनाए रखने की) असामर्थ्य के कारण होते हैं। पाठ में निर्दिष्ट विराम अध्याय के अन्त तथा मध्य में नियमित स्थितियों में तथा शब्दों एवं क्रमों के अन्त में आते हैं। दूसरी प्रकार के (अर्थात् ध्वन्यात्मक) विराम का कोई निश्चित स्थान नहीं होता। इसी प्रकार संहिता या सम्पृक्त वाक् भी दो प्रकार की होती है : पाठ सम्बन्धी तथा ध्वन्यात्मक। द्वितीय प्रकार में ध्वनि-समूह या संहिता की इकाई वह है जो कि एक श्वास परिधि के अन्तर्गत हो। अतः इस शोधकर्ता के मत में सन्धि या वाग्धारा का निर्णय वास्तव में श्वास से होता था। शोधकर्ता ने यहाँ पर भाषा की एक जीवित विशेषता का जिक्र किया है। यद्यपि उसका विचार पर्याप्त रूप से उपयुक्त न था, यद्यपि यह ठीक है कि वाग्धारा के विभिन्न पक्ष व्यक्त-विशेष की श्वास शक्ति के साथ बदलते रहते हैं, किन्तु उन पक्षों का निश्चित स्थान निर्धारित न करने के कारण लेखक संस्कृत-वक्ता के द्वारा समस्त अन्त्य व्यंजनों को एक विशेष रूप में अर्थात् उनको 'अन्तःस्पृष्ट' व्यंजनों के रूप में उच्चारित करने की कुछ निश्चित प्रवृत्तियों को देखने तथा उन पर बल देने में असफल रहा है।

कच्चायन के द्वारा अपने पाली व्याकरण में तथा कातन्त्र के लेखक द्वारा लिप्यात्मक तथा ध्वन्यात्मक सन्धि के विभिन्न व्यवहारों के

सम्बन्ध में दिलचस्प निर्देश किये गये हैं। उन्होंने साथ-साथ दिये हैं, प्रथम, लिप्यात्मक संधि के सम्बद्ध नियम के अनुसार अन्त्य व्यंजन अनुगामी ध्वनि के साथ जाता है। कच्चायन ने उदाहरण दिया है— “तत्राभिरितिम् इच्छेय”। इसमें अन्त्य म् अनुवर्ती ध्वनि इ के साथ आता है। यह नियम सम्भवतः ध्वन्यात्मक की अपेक्षा लिप्यात्मक अधिक था। क्योंकि हम यह भी जानते हैं कि अन्यथा इसके विपरीत संस्कृत का अन्त्य म् प्राकृत में केवल अनुस्वार मात्र रह जाता है तथा इसलिए बोलचाल की भाषा में संस्कृत-वक्ता की प्रवृत्ति इस अन्त्य म् को अनुवर्ती ध्वनि की ओर ले जाने की नहीं थी। अन्त्य व्यंजन को अनुवर्ती स्वर के साथ ले जाने के इस विधान के साथ-साथ वही लेखक यह भी विधान करते हैं कि किसी शब्द के अन्त्य व्यंजन को अनुगामी शब्द के आद्यस्वर से पृथक् रखना चाहिए, यथा तत्रायम् आदि में। मुझे सन्देह नहीं कि यदि इसका क्षेत्र भिन्न नहीं होता तो यह नियम दूसरे से विरोधी होता। इस नियम का विषय ध्वन्यात्मक था, वास्तविक उच्चारण में अन्त्य व्यंजन अनुवर्ती शब्द से पृथक् रख जाता था। इसी प्रकार पाणिनि पर भाष्य करते हुए पतंजलि संहिता तथा अन्त्य ध्वनियों के स्वरूप पर पर्याप्त दार्शनिक विमर्श में पड़ गए हैं किन्तु अन्ततोगत्वा लोक व्यवहार के समक्ष भुक्त जाते हैं। वे कहते हैं “इन पारिभाषिक शब्दों की परिभाषा करना कठिन है।” कुछ लोगों ने ध्वनियों के निकटतम सान्निध्य के रूप में इसकी परिभाषा लागू नहीं हो सकेगी। कुछ आचार्य संहिता को दो शब्दों के बीच के उस सम्बन्ध तक ही सीमित मानते हैं जब कि इन दोनों के बीच में कोई अवकाश न हो, किन्तु सच तो यह है कि इस परिभाषा के अनुसार यह शब्द (term) किन्हीं दो अनुक्रामक ध्वनि विशेषों पर लागू हो सकता है। क्योंकि उनके बीच में सदा ही एक अत्यल्प विराम होता ही है। इसके अतिरिक्त, अन्त्य की परिभाषा करना भी इतना ही असन्तोषजनक है, क्योंकि एक प्रकार से प्रत्येक ध्वनि को अन्त्य ध्वनि कहा जा सकता है। अतः संहिता एवं अन्त्य के स्वरूप का ज्ञान लोक-व्यवहार से किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, जब एक व्यक्ति सस्वर पढ़ रहा हो तो दूसरा व्यक्ति उससे कह सकता है—शन्नो देवीः को संहिता से पढ़ो अर्थात् “निकट सम्बद्धता के साथ।” तथा पाठक तब ध्वनियों को अत्यन्त निकट ले आता है। तब अन्य व्यक्ति उससे कह सकता है, “तुम्हारे पठन में अन्त्य ध्वनि कौन है?” तब वह उत्तर दे सकता है—अन्त्य अ या इ या उ है। संहिता और अन्त्य ये दोनों ही शब्दों को लोग जानते हैं तथा इनके स्वरूप का ज्ञान लोक व्यवहार से ही किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि पतंजलि ने यहाँ स्वीकार किया है कि संहिता तथा अन्त्य ध्वनियाँ जीवित बोलियों के व्यवहार के विषय थे, तथा लिप्यात्मक पाठों तथा व्याकरणिक नियमों से आबद्ध नहीं थे। वैयाकरणों को भी इस लोक-व्यवहार के समक्ष भुक्तना पड़ता था। इसकी पुष्टि एक और संधि सम्बन्धी इस प्रसिद्ध उक्ति से होती है कि यह पद के भीतर नित्य होती है किन्तु एक तथा दूसरे पद के बीच में अनित्य अर्थात् विकल्प से होती है। इसलिए जब ‘चारायणीय शिक्षा’ कहती है कि संधि में अन्त्य व्यंजनों को द्वित्व किया जाता है तो लेखक का कथन ठीक ही कहा जायेगा, यदि इसका संदर्भ वैदिक मंत्रों के औपचारिक सस्वर पाठ या साहित्यिक ढंग की संस्कृत के उच्चारण से हो, किन्तु उसका नियम अन्त्य व्यंजनों पर उतना उपयुक्त नहीं जैसे कि जीवित बोलियों में वे वास्तव में उच्चरित होते थे, जैसा कि उपर्युक्त वैयाकरणों के प्रमाणों, भाषा की प्रवृत्ति, तथा संस्कृत के अक्षरीकरण के सामान्य सिद्धान्त से सिद्ध होता है। उपर्युक्त प्रकरण में शोधकर्ता ने व्यंजनों के द्वित्वीकरण के ‘चारायणीय शिक्षा’ के विचारों की आलोचना भाषा की सामान्य प्रवृत्ति के दृष्टिकोण से की है। किन्तु इस तथ्य पर विचार करने के कारण कि इस शिक्षा में अभिव्यक्त अनेक विचार तथ्यों का ठीक-ठीक निरूपण करते हैं तथा यह भी कि अथर्व प्राति इससे भी आगे जाकर अन्त्य के सभी व्यंजनों के द्वित्वीकरण की बात कहता है। यह कल्पना उपयुक्त हो सकती है कि ये लेखक उस

वास्तविक ध्वन्यात्मक विशेषता का निर्देश करते हैं जो कि संस्कृत-उच्चारण के कुछ अलग-अलग क्षेत्रों में सीमित रही हो। शोधकर्ता ने ऊपर साहित्यिक संस्कृत का जिक्र किया है जिसमें कि अन्त्य के व्यंजनों को आमतौर पर द्वित्व किया जाता था; किन्तु यह कल्पना करना कठिन है कि संस्कृत-भाषी समाजों में किसी स्तर पर साहित्यिक संस्कृत का व्यवहार एक जीवन्त तत्व नहीं था। ऐसी कल्पना करना तर्कसंगत नहीं होगा। उदाहरणार्थ, लंदन के शिक्षित वर्ग द्वारा बाली जाने वाली अंग्रेजी एक जीवन्त घटना नहीं, क्योंकि यह सविशेष वर्ग द्वारा बोली जाने वाली अंग्रेजी एक जीवन्त घटना नहीं, क्योंकि यह सविशेष रूप में इंग्लैण्ड की बोली का प्रतिनिधित्व नहीं करती। इसलिए ऐसा होना असम्भव नहीं था कि सन्धि में अन्त्य व्यंजन, तथा तत-करोति में, संस्कृत-भाषी भारत के कुछ शिक्षित समाजों में वास्तुतः द्वित्व वाले जाते थे।

संदर्भ सूची

1. प्रह्ला प्रतिशख्य— 6.3
2. पाणिनीय अष्टाध्यायी (सर्वत्र शाकल्यस्य 8.4.51
3. व्यास शिक्षा (प्रो० लूडर्स) पृ० 18
4. फैंक का संस्करण पृ० 6, 8
5. ऋग्वेद 20.136.7
6. ऋग्वेद 18.101.1
7. निघण्टु II.14
8. अष्टाध्यायी 8.3.107
9. प्राचीन भारतीय वैयाकरणों के ध्वन्यात्मक विचारों का विवेचन सिद्धेश्वर वर्मा पृष्ठ 123